CHETANA
International Journal of Education (CIJE)
Peer Reviewed/Refereed Journal
ISSN : 2455-8279 (E)/2231-3613 (P)
Impact Factor
SJIF 2025-8.445

Prof. A.P. Sharma
Founder Editor, CIJE
(25.12.1932 - 09.01.2019)

हिंदी उपन्यासों में आदिवासियों की जीवन शैली

डॉ ललित कुमार श्रीमाली
शोधनिर्देशक
सतीश चंद्र जोशी
शोधार्थी, हिंदी विभाग
जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डीम्ड टू बी विश्वविद्यालय) उदयपुर (राज.)
Email-lalitshrimali2014@gmail.com, Mobile-9461594159

First draft received: 15.11.2025, Reviewed: 18.11.2025
Final proof received: 21.11.2025, Accepted: 28.11.2025

सारांश

आर्थिक उदारीकरण के कारण विभिन्न बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों में नियमों को कमजोर करने वाले कानूनों का निर्माण होने से खनन के क्षेत्र से जुड़ी कंपनियाँ आज जंगलों के निवासियों को वहाँ से खदेड़ रही हैं। ये निवासी जो आदिवासी कहलाते हैं, इनके सामने अपनी अस्मिता का संकट खड़ा हो गया है। हिंदी के कुछ उपन्यासकारों ने अपना ध्यान इनकी समस्याओं पर भी केंद्रित किया है। आदिवासियों से जब इनका जंगल, इनकी जमीन ही छीनी जा रही है तो इनकी अस्मिता पर संकट आ गया हैं उपन्यासों में यह बात सामने आ रही है कि इन पर यह संकट दो रूपों में आ रहा है। एक तो बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ सत्ता से गठजोड़ करके इन्हें समाप्त कर देना चाहती है। दूसरा यह कि विभिन्न धर्मों के प्रचारक इनका विलय अपने धर्म में कर लेना चाहते हैं। इन दोनों संकटों से आदिवासियों को उबरना होगा अन्यथा इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

मुख्य शब्द: आदिवासी, अस्मिता, जीवन शैली आदि.

परिचय

अंग्रेजी में आने वाले शब्द 'ट्राइब' का मूल लैटिन का 'ट्राइबस' है जो रोमन राज्य के मूल त्रिपक्षीय जातीय विभाजन के लिए इस्तेमाल होता है। कई नृविज्ञानी इसका प्रयोग उन समाजों के लिए करते हैं जो मोटे तौर पर कुटुंब के आधार पर संगठित हुए। भारत में सरकारी भाषा में एक आदिवासी समुदाय मूलतः प्रशासनिक और राजनीतिक अवधारणा है। इस अवधारणा में आदिवासी होने का सामाजिक और आर्थिक पक्ष गायब है। वैदिक युग ने कृषि युग का मार्ग प्रशस्त किया और राजकीय नियंत्रण में ग्रामीण बस्ती बसाई गई। चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में चाणक्य ने अपनी प्रसिद्व पुस्तक 'अर्थशास्त्र' बताया है कि में आदिवासियों को संगठित करने की प्रक्रिया का जिक्र किया है। यह भी जिक्र हमें मिलता है कि आदिवासियों को दास बनाकर खेती की जमीनों पर खटाया जाए। गुप्तकाल के दौरान शांति और व्यापार में तेजी के चलते ग्रामीण रिहाइशों में निजी उद्योग पनपने लगे। लेकिन ग्रामीण अर्थव्यवस्था वस्तु विनिमय पर आधारित थी। हर गाँव में उसकी आवश्यकता के अनुसार लोहार, बढ़ई, कुम्हार और अन्य शिल्पकार होते थे। प्रत्येक वर्ग के लोगों की संख्या लगभग निश्चित ही रहती थी। इनमें जो वर्ग कृषि कार्य नहीं करते उन्हें किसानों की फसल का एक निश्चित हिस्सा मिलता था। इस प्रकार प्रत्येक गाँव अपने आप में एक आत्मनिर्भर इकाई बन गया था। गाँव नकद से भी मुक्त हो गया। यहाँ की जाति व्यवस्था बहुत सुदृढ़ हो गई। जाति व्यवस्था के नियमों की पालना कट्टरता से होने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था में एक गतिरोध भी आ गया। वह यह था कि अतिरिक्त लोगों को काम नहीं मिला और वे बेरोजगार हो गए। जिन्होंने शिल्पकलाओं में महारत हासिल कर ली उन्होंने दूसरों को इस व्यवसाय में आने से रोका। जाति के कारण कुछ ही लोग महीने काम कर पाते थे। जैसे भेड़ से ऊन कतरना, चमड़े का काम करना आदि जो कि सारे निचले दर्जे के पेशे थे। सामाजिक ढाँचे के चलते कोई गाँव ऐसा नहीं था जो पूरी तरह लोहारों के गिल्ड या सिर्फ चर्मकारों को समर्थन देता हो। नतीजा यह हुआ कि जो लोग दुर्भाग्यवश बेराजगार रह गए, वे जंगलों और पहाड़ों की ओर चले गए और तब से वे आदिवासी कहलाए। तब से लेकर भारत के आजाद होने तक वे हाशिए पर ही रहे। जब भारत आजाद हुआ तब आदिवासी समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में उभरकर सामने आई और आदिवासी राजनीति के केन्द्र में आ गए। भारत की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में आदिवासियों को दरकिनार करके कोई भी राजनीतिक दल नहीं कर सकता। आदिवासियों की राजनीति के

केन्द्र में आने के पीछे प्रधान कारण है- आदिवासियों में बढ़ती जागरुकता, उनका अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष और उनके क्षेत्रों में कारपोरेट घरानों का प्रवेश। भारतीय संविधान के माध्यम से आदिवासियों की प्रतिष्ठा एक मनुष्य के रूप में की गई हैं यह कार्य उनके मानवाधिकारों की रक्षा करते हुए किया जा रहा है। आज उन्हें वे सभी सुविधाएँ और सुरक्षा प्राप्त है जो देश के बाकी नागरिकों को मिल रही है। आदिवासियों का समूचा सांस्कृतिक तानाबाना और जीवन शैली वे जैसा चाहें रखें, राज्य की उसमें किसी भी किस्म के हस्तक्षेप की भूमिका नहीं है।आर्थिक उदारीकरण के कारण विभिन्न बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों में नियमों को कमजोर करने वाले कानूनों का निर्माण होने से खनन के क्षेत्र से जुड़ी कंपनियाँ आज जंगलों के निवासियों को वहाँ से खदेड़ रही हैं। ये निवासी जो आदिवासी कहलाते हैं, इनके सामने अपनी अस्मिता का संकट खड़ा हो गया है। हिंदी के कुछ उपन्यासकारों ने अपना ध्यान इनकी समस्याओं पर भी केंद्रित किया है। आदिवासियों से जब इनका जंगल, इनकी जमीन ही छीनी जा रही है तो इनकी अस्मिता पर संकट आ गया हैं उपन्यासों में यह बात सामने आ रही है कि इन पर यह संकट दो रूपों में आ रहा है। एक तो बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ सत्ता से गठजोड़ करके इन्हें समाप्त कर देना चाहती है। दूसरा यह कि विभिन्न धर्मों के प्रचारक इनका विलय अपने धर्म में कर लेना चाहते हैं। इन दोनों संकटों से आदिवासियों को उबरना होगा अन्यथा इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

उपनिवेशकालीन दक्षिण राजस्थान के आदिवासी विद्रोह पर एकाग्र हरिराम मीणा की रचना धूणी तपे तीर को यों तो उपन्यास की संज्ञा दी गई है, लेकिन यह इतिहास का दस्तावेज भी है। गल्प के अनुशासन में होने के कारण यह एक औपन्यासिक रचना है, लेकिन ऐतिहासिक दस्तावेज होने के कारण इसका साहित्येतर महत्त्व भी बहुत है। यह रचना हिंदी में साहित्य की साहित्येतर अनुशासनों के साथ बढ़ नही निकटता और इससे होने वाली अंतक्रियाओं की भी साक्ष्य है। हिंदी में किसी घटना या व्यक्ति पर गहन और व्यापक शोध आधारित उपन्यास लिखने की कोई समृद्ध परपंरा नहीं है। हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों की जो परपंरा है, उसमें शामिल अधिकांश उपन्यास पुनरुत्थान की चेतना से ओतप्रोत है। खास बात यह है कि इनमें तथ्यों को कल्पना से पुष्ट और विस्तृत करने के बजाय विकृत गया है। इनमें दूरस्थ अतीत की केवल कल्पनाप्रधान पुनर्रचना और अमूर्तन है। हरिराम मीणा की यह रचना हिंदी मंे अपनी तरह की पहली रचना है, जो उपनिवेशकालीन निकट अतीत के एक आदिवासी विद्रोह पर की गई गहन और व्यापक शोध पर आधारित है और जिसमें तथ्यों को कल्पना से विकृत या अमूर्त करने के बजाय पुष्ट और विस्तृत किया गया है। यह रचना राजस्थान के दक्षिणी भूभाग में उपनिवेशकाल के दौरान ब्रिटिश सामंती गठजोड़ के विरुद्व हुए आदिवासी विद्रोह पर आधारित है। यह विद्रोह कोई मामूली उपद्रव या उत्पात नहीं था उपनिवेशकाल से पहले तक अपनी जमीन और जंगलों पर आदिवासियों का सहज और निर्विवाद स्वामित्व था। सामंतों की उनके वर्चस्व वालें इलाको में पहुँच और दखलंदाजी सीमित थी और वे अपने इलाकों में खुदमुख्तार थे। अंग्रेजों से संधियों के बाद रियासती सामंतों ने जंगल और जमीन पर आदिवासियों के इस पारंपरिक स्वामित्व और वर्चस्व में दखलदांजी शुरू कर की। उनके रखवाली और बोलाई जैसे पारंपरिक अधिकार छीन लिए गए। अंग्रेजों के समर्थन और सहयोग से आदिवासियों का दमन और शोषण भी बढ़ गया। इसके लिए खैरवाड़ा में मेवाड़ भील कोर की स्थापना की गई। वंचित और दमित-शोषित आदिवासियों में धीरे-धीरे असंतोष बढ़ने लगा और विद्रोह होने लगे। पहला सफल विद्रोह बारापाल और पडोना में हुआ और धीरे-धीरे यह दूसरे इलाकों में भी फैल गया। इसकी चरम परिणति 1913 के मानगढ़ विद्रोह में हुई। यह केवल एक क्षेत्रीय विद्रोह नहीं था। यह तत्कालीन राजपुताना की आदिवासी बहुल मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ और कुशलगढ़ के साथ गुजरात की पड़ौसी ईडर और संतरामपुर रियासतों तक विस्तृत था। इसका नेतृत्व 1858 में डूंगरपुर रियासत के बांसिया गाँव में उत्पन्न बनजारा जाति के समाज सुधारक और क्रांतिकारी गोविंद गुरु ने किया, जिन्हें आदिवासियों का व्यापक समर्थन और सहयोग प्राप्त था। गोविंद गुरु ने आदिवासी नायक पूँजा के साथ मिल कर संप सभा के माध्यम से तीन दशकों तक निरंतर आदिवासियों में पहले जागृति का काम किया। उन्होंने इसके लिए गाँव-फलियों में संप सभाएँ और धूणियां कायम की। उन्होंने आदिवासियों में सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए आंदोलन चलाए। खास तौर पर आदिवासियों में शराब के व्यापक चलन के विरुद्ध उन्होंने सफल मुहिम चलाई, जिसका परिणाम यह हुआ कि बांसवाड़ा रियासत में 1913 में शराब की खपत 18,740 गैलन से घटकर केवल 5,154 गैलन रह गई। उन्होंने घूम-घूम कर गाँव-फलियों में जागृति और अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार के लिए समर्पित और निष्ठावान कार्यकर्ताओं का एक संगठन खड़ा किया। अंततः 1913 में आरपार की लड़ाई शुरू हुई। गोविंद गुरू के आह्वान पर 25,000 आदिवासी रणनीतिक महत्त्व के पहाड़ मानगढ़ पर एकत्रित हुए। अंग्रेजों ने इस विद्रोह के दमन के लिए रियासती फौजों के साथ अपनी सात सैनिक कंपनियां लगाई। विद्रोह को नृशंसतापूर्वक कुचल दिया गया। इस दौरान लगभग 1500 आदिवासी मारे गए, इतने ही घायल हुए और 900 विद्रोही आदिवासियों को गोविंद गुरू सहित गिरफ्तार कर लिया गया।

यह एक संगठित, सुनियोजित, दीर्घकालीन और तैयारी के बाद किया गया विद्रोह था, जिसमें शहीद होने वाले आदिवासियों की संख्या जलियावाला हत्याकांड से चार गुना अधिक थी। विडंबना यह है कि इतिहास में इसका उल्लेख नहीं है। राजस्थान के सामंतों का विस्तृत इतिहास लिखने वाले गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसके संबंध में केवल इतना ही लिखकर किनारा कर लिया कि "मानगढ़ पर एकत्रित कुछ भीलों ने उत्पात मचा रखा था। फौज को गोलियां चलानी पड़ी। कुछ भील मारे गए।"[1] इस विद्रोह से संबंधित पर्याप्त अभिलेख हैं, लोक साक्ष्य हैं, लेकिन अभी तक उनको एक जगह एकत्रित नहीं किया गया था। इस रचना में लेखक ने पहली बार इन सभी को गहन और व्यापक शोध के बाद एक जगह एकत्रित किया है और इस तरह का विद्रोह को एक मुकम्मिल पहचान देने की कोशिश की है।इतिहास के साथ यह कृति एक रचनात्मक आख्यान भी है। लेखक इसमें बहुत कौशल के साथ संयम में रहकर इतिहास को रचना में ढालता है। यह मुश्किल काम है, लेकिन लेखक ने इसे खूबी के साथ अंजाम दिया है। वह इसमें तथ्य की जमीन पर मजबूती से अपने पाँव जमा कर फिर अपनी कल्पना को ढील देता है। इस रचना में ऐसे कई प्रसंग हैं, जो तथ्य और कल्पना

के असाधारण संयोग से संभव हुए हैं। मेवाड़ भील कोर को रायफल देने के लिए आयोजित उत्सव, पालपा के जागीरदार के विरूद्ध दड़वाह की जमीन के लिए आदिवासी संघर्ष के प्रसंग इसके अच्छे उदाहरण है। मानगढ़ विद्रोह का दैनंदिन विवरण भी तथ्य और कल्पना के संयोग के कारण ही इसमें बहुत असरदार बन गया है। चरित्रों के गठन और विस्तार में भी लेखक ने यही किया हैं गोविंद गुरु के चरित्र के गठन और निर्माण में तथ्यों को कल्पना से ही विस्तार दिया गया है। लोक में उनकी छवि धार्मिक आधार वाले संत-महात्मा की थी और मूलतः वे एक समाज सुधारक और क्रांतिकारी थे, लेकिन लेखक कल्पना के सहारे उनके इन दोनों रूपों को मिला कर एक नई छवि गढ़ता है। इसमें पूँजा और कमली के चरित्र भी इस तरह गढ़े गए हैं। अलबत्ता लेखक ने कुरिया का चरित्र गढ़ने में कल्पना की अतिरिक्त छूट ली हैं कुरिया की ऊहापोह और अंतर्संघर्ष को लेखक कल्पना के सहारे खास दिशा देता है। कुल मिला कर इतिहास, दस्तावेज, लोककथाएं, लोकगीत, जनश्रुतियां आदि इस कृति में लेखक की कल्पना के साथ घुल मिल कर एक रचनात्मक आख्यान का रूप ले लेते है।

हिंदी के कहानी-उपन्यासों मंे क्षेत्रीय भूगोल और प्रकृति की मौजूदगी कभी भी ध्यानाकर्षण और उल्लेखनीय हैसियत नहीं बना पाई, लेकिन इस रचना में ऐसा हुआ है। दक्षिणी राजस्थान का खास भूगोल और प्रकृति अपनी समग्रता के साथ यहाँ मौजूद हैं। यहाँ के पहाड़ों, नदी-नालों आदि का इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवरण इस रचना में आया है कि लगता है जैसे लेखक वहीं का रचा-बसा हो। खास उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें प्रकृति मानवीय जीवन से अलग नहीं, उसके साथ अविभाज्य रूप में मौजूद हैं। मानवीय सुख-दुख, द्वंदंव और हास-परिहास यहाँ के धरती-आकाश, चाँद-सूरज, धूप-छाया, बादल-बरसात और तारों के साथ आते हैं। प्रकृति इसमें आदिवासियों के सुख-दुख के साथ अपना रूप और रंग बदलती लगती है। उपन्यास में एक जगह ओले गिरने से बना जीवन और प्रकृति का संयुक्त दृश्य इस तरह हैं:

“इस दरम्यान चाँद घटाओं से घिर चुका था। कुछेक तारे ही पूर्वी गोलादर्ुव में टिमटिमा रहे थे। गाँव के सर के ठीक ऊपर जोरदार बिजली कौंधी और बादलों की गड़गड़ाहट से सारा अंचल कांप उठा। इक्की-दुक्की बूँदें कहीं-कहीं गिरी तो गिरी, ओलों की बारिश आरंभ हो गई। लपलपाती विद्युत कौंध, घन-घर्जन और तड़ातड़ उपल वृष्टि...।

वागड़ प्रदेश के इस अंचल की पहाड़ियों के चैन में खलल पड़ा, जंगल की शांत मुद्रा भंग हुई और गाँव-गाँव का बच्चा-बच्चा जाग गया। प्रौढ़ औरतों नेअपनी झौपडियों से काली हांडिया बाहर फैंकी। बुजुर्ग महिलाओं ने पत्थर की चक्की के पाटों को उल्टी दिशा में फिराया.....।”[2]

ऐसा ही एक प्राकृतिक दृश्य इस रचना में उस समय का है जब आदिवासियों में उपन्यास और अत्याचार के विरुद्ध असंतोष और प्रतिकार की भावनाएँ गहरा कर बाहर आने के लिए तैयार है:

“वागड़ प्रदेश के जंगलां में पलाश के पेड़ों की बेतरतीब शाखाएं फूलों के गुच्छों से लदी हुई थीं। पत्ते तो नाम के थे। दहकते अंगारों से सुर्ख फूल, जैसे जंगल में चारोंऔर आग लगी हो। खेत-खलिहान सूने हो चुके थे। पतझड़ के बाद चैत में फूटी नन्हीं कोंपलों अब किशोर हो गयी थीं। जंगल के बीच-बीच में यहाँ-वहाँ अमलतास के पेड़ अपने पीले फूलों को टहनियों के गर्भ में पाले हुए थे। सागौन के लम्बे दरख्त जंगल के पहरेदारों से प्रतीत हो रहे थे। इमली, महुआ, सरेस, बरगद, पीपल, जामून, आम के वृक्ष अपनी सघनता के कारण गम्भीर व शांत दिखायी दे रहे थे। मौसम का मिजाज गर्म होता जा रहा था।”[10]

दक्षिणी राजस्थान पर केंद्रित इस उपन्यास में आदिवासियों द्वारा अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष जो 19वीं सदी में ही प्रारम्भ हो गया वह मिलता है। आदिवासी 19वीं सदी में अनपढ़ होते हुए भी जीवन के क्रूर यथार्थ से परिचित थे। वे जानते थे कि अंग्रेज चालाक, धूर्त, ठग और स्वार्थी हैं। देसी रियासती सत्ताधीश और उनके नुमाइंदे अत्याचारी, अय्याश और अहंकारी हैं। उपन्यास में एक प्रसंग आता है। उदयपुर से करीब सात-आठ कोस आगे सूरा बावड़ी के पास एक टेकरी पर सौ-पचास आदिवासियों की भीड़ को एक व्यक्ति संबोधित कर रहा था- “घोर अकाल पड़ा। आदमियों के लिए अन्न का दाना नहीं है। मवेशियों के लिए चारा पैदा नहीं हुआ। जंगलात के कंद-मूल-फल और बरट जैसे घास के दानों पर हमारा पुश्तेनी हक था जिसे राज ने छीन लिया। अब तो हमें इन चीजों के लिए भी राज के आदमियों से मंजूरी लेनी पड़ती है और ऊपर से पैसा देना पड़ता है। सैकड़ों बरसों से हम राह-वसूली करते आये। यह कोई चैथ-वसूली नहीं थी, बल्कि हमारे इलाके से गुजरने वालों को सही सलामत निकालने के एवज में हमारा पुश्तैनी हक था। उस प्रथा पर राज ने कड़ी पाबंदी लगा दी। रियासत ने ऐसा पहले कभी नहीं किया, यह सब भूरेटियों (अंग्रेजों) की वजह से हुआ। राज की बेगार पहले से चली आयी। हम इसे सहते रहे, पर अब तो हद तो गयी। यह अकाल और आये दिन बेगार।..... जब गुरु ने संप सभा के नियम बनाये, तो उसमें बातें धर्म और समाज सुधार की रखी गयी। मैं इनका विरोध नहीं करता। यह सब होना चाहिए। बुरे रीति-रिवाज समाप्त होने चाहिए। हममे जो बुरी लतें है, वे मिटनी चाहिए। पर मेरी बात तो खेती की जमीन पर लगान, वनों की उपज पर पाबंदी व वसूली, बेगार और हम पर बिना कोई दोष के आये दिन होने वाले अत्याचार हैं। हमारी बहन-बेटियों की इज्जत बिगाड़ने से नहीं चूकते हैं अहलकार, रियासती जागीरदार और उनके छुटभैये।

वागड़-मेवाड़, गुजरात, खानदेश, मालवा में बसे सब आदिवासी समान हैं। राज के आदमी हमें बहकाते हैं। यह कहते हैं- तू भील, तू डामोर, तू मीणा, तू गमेती, तू इस पाल का, तू उस खांप का, तूम इस या उस गोत का। झूठी बात फैलाते हैं कि हमारे पुरखों के बीच चलाचली रहती थी।

ये सब बातें हमको बाँटने के लिए फैलायी जाती हैं। हमारे पुरखे एक जुट होकर अपने हकों के लिए लड़ते थे और जीते थे। तुम्हें पता नहीं कि इस पूरे आदिवासी इलाके में पुराने जमाने में हमारे

राजा-महाराजा हुआ करते थे। कोई दूसरा हम पर राज नहीं कर सकता था। बेणेसरधाम के मेले में एक साधू ने बताया था कि डूँगर भील ने डूँगरपुर बसाया था। बास्या भील के नाम पर बाँसवाड़ा नाम पड़ा है। इसी तरह बूँदा मीणा के नाम पर बूँदी और कोट्या भील के नाम कोटा शहर बसे। इन परदेशी राजपूतों ने हमारे राज छीने हैं और हमारे इलाकों पर राज करते हैं। फिरंगियों को रजवाड़े ही बुलाकर लाये है। और अब दोनों मिलकर हमारा खून चूस रहे हैं।"[11] इस बड़े प्रसंग से पता चलता है कि आदिवासियों का अस्मिता संघर्ष नया नहीं है। यह अठाहरवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही चल रहा है। इन लोगों में शिक्षा का प्रचार-प्रचार बहुत बाद में हुआ लेकिन उपन्यास के 'कुरिया दनोत' जैसे पात्रों के माध्यम से हमें यह पता चलता है कि इन लोगों में अपनी अस्मिता को लेकर जागरूकता तो पहले से ही विद्यमान थी। आदिवासियों के समूह को यह उपदेश देने वाला 'कुरिया दनोत' ही था। गोविंद गुरु के धूणी स्थल मानगढ़ पहाड़ पर एक बार उन्होंने अपने चुनिंदा कार्यकत्र्ताओं के साथ गुप्तमंत्रणा की। संप सभा के प्रमुख कार्य-क्षेत्रों पर गहनता से चर्चा की गयी वहाँ पर भी कुरया बोला "मुझे अचम्भा इस बात का है कि इस पूरी धरती पर हम आदिवासियों की बहुसंख्या है और राजपूत बहुत कम संख्या में है। उनके साथ कुछ जातियाँ हैं। इतने कम लोग हम पर न जाने कब से राज चला रहे हैं। इस प्रकार के राज में हम भूखे-नंगे और सताये हुए लोग हैं। आये दिन इस राज द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को भुगत रहे हैं। हमारे दुख-दर्द की राज को कतई परवाह नहीं। भूरेटिया परदेशी कौम है। हमारे ऊपर राज करने वाले सभी राजा-महाराजा फिरंगियों के कहने पर चलते हैं। हमारी जमीन, जंगलांे, पहाड़ों और नदी नालों पर से हमारे पुश्तैनी हक खत्म किये जा रहे हैं।"[12] उपन्यास के अन्दर हर जगह 'कुरिया' जैसे पात्र हमेशा ही अपनी बात रखते समय अपनी 'अस्मिता' की बात भी कहते है। इनका मानना है कि आदिवासी समाज पुराने जमाने में स्वतंत्र समाज रहा है। समाज व्यवस्था उन्हीं के मुखिया द्वारा चलायी जाती रही थी। मुखिया ही मिलकर अपना राजा चुनते थे। और राजा आदिवासी ही होता था। आदिवासियों के भोलेपन व नासमझी का फायदा उठाकर राजपूतों ने अपना राज कायम किया और आदिवासी प्रजा पर जुल्म करने लग गये। आदिवासियों को इसका विरोध करना है। जमीन व जंगलों पर भगवान के दिये पुश्तैनी हक को पुनः पाना हैं इसके अलावा हमारे पास रोजी-रोटी का अन्य कोई विकल्प नहीं है।

सन् 1857 के संग्राम के बाद भारत पर ब्रिटिश राज की सीधी दखंलदाजी की प्रक्रिया से रियासती सत्ता द्वारा दक्षिणी राजस्थान में होने वाले अत्याचारों में बढ़ोतरी हुई। और आदिवासियों को संघर्ष की राह पकड़नी पड़ी।

लेखक ने उपन्यास के पूर्व कथन मंे लिखा है- "19वीं सदी के अंतिम चरण में हो कुछ बुरी घटनाएँ घटित हुई, सत्ता के स्तर पर जो कुछ राजनीतिक परिवर्तन हुए, ब्रिटिश-शोषण के जो नये-नये तौर-तरीके और रणनीतिक दाँव-पेंच अपनाये गये और इन सबके विरुद्ध विद्रोह की जो आग अंचल के आदिवासियों के भीतर सुलगती रही- इन सबको मूक साक्षी मानगढ़ ने अपनी अदृश्य आँखों से देखा।"[13] कुल मिलाकर हम यह कह सकते है, कि 'धूणी तपे तीर' उपन्यास भी आदिवासियों के अस्मिता संघर्ष को ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इतिहास और आख्यान के संतुलित और संयमित मेल से बनी इस रचना का आस्वाद पारंपरिक औपन्यासिक रचनाओं से अलग तरह का है। इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों का उपजीव्य अब आदिवासियों की जीवन शैली और उनकी परिस्थितियाँ बन रही हैं अभी तक हिंदी में आदिवासी रचनाकारों का अभाव है लेकिन आदिवासी क्षेत्रों से जुड़े हुए हिंदी कथाकार उनसे जुड़े हुए मुद्दे कथा साहित्य के माध्यम से उठा रहे है। आज की परिस्थतियों में आदिवासियों की अस्मिता को पूँजीवादी शासन व्यवस्था से खतरा उत्पन्न हो गया है। उनके पारम्परिक संसाधनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपना कब्जा करने को तैयार खड़ी है। यही सब कुछ हिंदी उपन्यासों में आ रहा है।

संदर्भ

01 हरिराम मीणा: धूणी तपे तीर, साहित्य उपक्रम, जयपुर, 2008, पृ. 19

02 वही, पृ.35

03वही, पृ.325

04वही, पृ.117-118

05वही, पृ.185-186

06**वही**, **पृ**.9